आदिवासी संवेदनशीलता, औपनिवेशिक आधुनिकता और संजीव के उपन्यास

- प्रो. गणेश बी. पवार

सार-संक्षेप:

यह लेख आदिवासी संवेदनशीलता, उनके जीवन यथार्थ के रूपों को संजीव के उपन्यासों में तलाशने की कोशिश करता है। किसी भी समुदाय की संवेदनशीलता सामूहिक सांस्कृतिक द्वारा निर्मित होती है। सामुदायिक संस्कृति ही हममें संवेदनशीलता के बीज बोती है और उसे पल्लवित करती है, लेकिन संस्कृति कोई ठहरी हुई चीज़ नहीं है। वह अपनी गतिशीलता से विकसित होती रहती है, आगे बढ़ती है तो कभी पीछे जाती है, तो कभी किसी और संस्कृति से प्रभाव ग्रहण करती है तो कभी दूसरी संस्कृति के प्रभाव में आकर विकृत भी होती है। इस तरह संस्कृति में परिवर्तन एवं परिवर्धन होते रहते हैं, जो संस्कृति के जीवित होने व उसकी धारा प्रवाहित होते रहने का प्रमाण होते हैं।

आदिवासी संस्कृतियों ने भी कई पड़ाव देखे हैं, जिनमें औपनिवेशिक आधुनिकता एक बहुत बड़े धक्के की तरह आया। इस लेख में आदिवासी संस्कृति की बहुवचनीयता एवं उसके विभिन्न पड़ावों के ज़रिए संवेदनशीलता में आए बदलावों को भी रेखांकित करने की कोशिश की है, जिसमें संजीव के उपन्यासों को आधार-भूमि की तरह उनके यथार्थ रूप होने के कारण इस्तेमाल किया गया है।

बीज शब्द: आदिवासी संवेदनशीलता; हिंदी उपन्यास; आदिवासी संस्कृति; आदिवासी साहित्य; उपन्यासकार संजीव; संस्कृति का विकृतीकरण; औपनिवेशिक शासन; सांस्कृतिक प्रभुत्व; भौतिक विकास; भारतीय आदिवासी; प्राकृतिक संसाधन; सांस्कृतिक संघर्ष

आज हम आधुनिकता के कई रुपों को जानते हैं। जिस 'आधुनिकता' की अक्सर चर्चा की जाती है, वह औपनिवेशिक शासन के डिज़ाइन किए हुए मॉडल के अनुसार भारत में लायी गई। दूसरी ओर आज-कल 'देशज-आधुनिकता' की बात की जाती है, जो और कुछ नहीं भारत की मुख्य धारा समाज की संस्कृति को नए रूप में प्रस्तुतिकरण है। इसके अलावा भी भारत में कई 'आधुनिकताएँ' कई स्तरों और रूपों में मौजूद थी। इन संस्कृतियों को हम भारतीय उपमहाद्वीप की तमाम आदिवासी समुदायों में देख सकते हैं। यहाँ यह सवाल खड़ा हो सकता है कि एक ओर तो आदिवासी संस्कृति(यों) को प्राचीन कहा जाता है, तो दूसरी ओर यहाँ हम उन्हें 'आधुनिक' कह रहे हैं?

वास्तव में संस्कृति एक गतिशील परिघटना होती है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी मूल्य संरचना होती है। यह मूल्य संरचना समयानुसार कई कारणों से बनती-बिगड़ती या परिवर्तित-परिवर्धित होती रहती है। इस प्रक्रिया में संबंधित समाज के लिए अनावश्यक परंपराओं का त्याग एवं नयी ज़रूरतों के लिए नयी परंपराओं का लगातार को अपनाने की प्रक्रिया लगातार चलती रहती है। इसी तरह किसी भी संस्कृति में नित-नवीनता आती रहती है। संस्कृति का अधिकतम मानवतावादी होना उसकी पहचान है, न कि भौतिक विकास के पीछे आँखें मूँदकर दौड़ लगाना। इन पैमानों पर देखा जाए तो आदिवासी संस्कृतियों की अपनी गतिशीलता रही है। इन संस्कृतियों में भौतिक विकास से अधिक सामूहिक-सांस्कृतिक विकास पर ध्यान दिया जाता रहा है। इस तरह आदिवासी संस्कृतियों में मानवीयता एवं अपने ही संदर्भ में आधुनिकता का संचार होता है।

किसी भी संस्कृति की अभिव्यक्ति उस समाज की कलाओं और कला-परंपराओं में होती है। उसी क्रम में आदिवासी संस्कृतियों की अभिव्यक्ति भी उनकी कलाओं में होती रही है। संस्कृति के साथ-साथ उनके रूपों, अभिव्यक्ति पद्धतियों, उनके विषयों में भी बदलाव आते गए हैं। सांस्कृतिक गतिशीलता के साथ-साथ आदिवासी कलाओं में भी परिवर्तन-परिवर्धन आते गए हैं। लेकिन उनके केंद्र में आदिवासियत और आदिवासी संस्कृति रही है। इन बदलाओं को हम समीक्षात्मक रूप में संजीव के उपन्यासों के माध्यम से देखेंगे। एक और प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है कि हम अब तक आदिवासी संस्कृतियों और कलाओं का बहुवचन में प्रयोग क्यों कर रहे हैं? जबकि हम उन्हीं संस्कृतियों और गुणों के विकास का एकवचन में प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रश्न का उत्तर हम संजीव के उपन्यासों पर इस विषय में चर्चा करने के बाद उत्तर देने का प्रयास करेंगे। संजीव के ज़्यादातर उपन्यासों का कथा-क्षेत्र आज के बिहार और झारखण्ड राज्य हैं। यही स्वाभाविक कारण है कि इन्हीं क्षेत्रों के आदिवासियों की संस्कृति, कलाएँ और रहन-सहन का चित्रण संजीव के उपन्यासों में हुआ है। संजीव अपने उपन्यासों में लोक-जीवन की लयात्मकता के साथ-साथ संवेदनाओं को भी पिरोते हैं। उनके उपन्यासों में आने वाली प्रत्येक आदिवासी समूह की प्रतीकात्मकता भी अपने-आप शामिल होती चली जाती है। असल में प्रतीक निर्माण की आदिवासी कलात्मकता की एक विशेषता है, जिसका रचनात्मक प्रयोग संजीव ने अपने उपन्यासों में किया है। इसे एक उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है: “पन्ने फड़फड़ाकर नारायण ने किताबों की जाँच की, फिर कहा, ‘चलिए सर।’ वे पेड़ों के व्यूह में घुस गए। इतना घना झुरमुट देखकर भला कोई सोच सकता है कि एक बेहद सुहानी झील इसकी ओट में छिपी पड़ी है। लम्बी दोहरी घोड़े की नाल सी बीच में कोई द्वीप सा। कितनी सुरक्षित

जगह है अपहरणकर्ताओं के लिए। आसानी से लेकर द्वीप पर चले आओ, फिर करते रहो ब्लैकमेल, झील पार कर कोई द्वीप पर पहुँचने का दुस्साहस करे तो घुमा दो एक बार स्टेनगन।"[1]

आधुनिकता ने हर एक लेन-देन का व्यापार बना दिया है। यहाँ तक कि सांस्कृतिक लेन-देन को भी व्यापार का रूप दे दिया गया है। सामंतवादी समाज व्यवस्था के शोषण और कथित आधुनिक शोषण में पद्धतिगत अंतर है, लेकिन आधुनिक शोषण ने संस्कृति को भी व्यापार का माध्यम बना दिया है। सामंतवादी शोषण व्यवस्था में जाति और जेण्डर पर आधारित शोषण खुले आम हुआ करते थे, लेकिन आधुनिक समाज ने इसे व्यवस्था में पिरोकर महीन रूप में जारी रखा, जहाँ मानवाधिकार और समानता के नारे बुलंद किए जाते हैं, लेकिन शोषण कई रुपों जारी है। आधुनिक विज्ञान के विकास ने एक ओर सुविधाओं का अंबार लगा दिया। कई बार शक होता है कि यह आदिवासी जैसे समाजों को काबू में रखने का माध्यम ही तो नहीं! संजीव के 'सूत्रधार' उपन्यास में इसे बड़े ही महीन ढंग से दिखाया गया है, जहाँ लोक-संस्कृति और उसके प्रति कथित मुख्य धारा समाज का नज़रिया अभिव्यक्त हुआ है। एक जगह आधुनिक समाज का भाषाई अभिजात्य कुछ इस प्रकार दिखाया गया है: "बटोही को पता ही नहीं कि 'टिकस' किस चिड़िया का नाम है। उसे जब मालूम पड़ता है कि पाँच रुपये देने पर एक टिकस नाम की अजूबा चीज़ मिलेगी, जो छोटे से कागज़ की होगी तो उसे लगता है, ढबढब उसे बेवकूफ बना रहा है। भला पाँच रुपये देने पर दो अंगुर का छोटा सा टिकस मिलेगा और रेल जैसी बड़ी चीज़ पर चढ़ने में एक पइसा नहीं लगेगा, तो टिकट क्यों लें? समाजी बताता है कि बगैर टिकस के धर लिए जाओगे, नौ महीने तक जेल की खिचड़ी खानी पड़ेगी। आहि ये दादा! बटोही पूछते हैं कि पुलिस तो उनके पीछे यूँ पड़ी हुई है, मारेगी तो नहीं! समाजी गड़बड़ा गया, यह संवाद तो नाटक में नहीं था।"[2]

यह भिखारी ठाकुर के एक नाटक का दृश्य है। इसमें जनजाति समुदाय के एक व्यक्ति की मानसिकता को कथित आधुनिक समाज की पद्धति के तर्क से देखने की कवायद दिखाई देती है। इस तरह की मानसिकता और तर्क को समझने के लिए हमें आदिवासी व लोक कलाओं को उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। मुख्यधारा समाज के नज़रिए से देखने पर यह तर्क हमें बड़ा ही बचकाना या हास्य निर्माण करने वाला लग सकता है, लेकिन कथित नई टेक्नॉलॉजी और उसकी कार्य-पद्धति को लोक तक पहुँचने की प्रक्रिया को इससे देखा जा सकता

[1]. जंगल जहाँ शुरु होता है-संजीव, पृ.135-36
[2].सूत्रधार, संजीव, पृ.242

है। इससे हम आदिवासी समुदाय की 'विश्व दृष्टि' को ऐतिहासिक प्रक्रिया में समझ सकते हैं। संजीव के धार, सर्कस और सूत्रधार उपन्यासों में इस तरह के कई प्रसंग देखने को मिलते हैं।

आधुनिकता के बारे में बात करते समय हम 'औद्योगीकरण' को कैसे भूल सकते हैं! औद्योगीकरण और विकास के नाम पर आदिवासी समुदायों के पीढ़ियों से चले आते हुए घर छीने जाते रहे हैं। यहाँ घर कहने का अर्थ, सिर्फ़ भौतिक अर्थों में घर नहीं, बल्कि पूरा परिवेश छीना जा रहा है। आदिवासियों के लिए उनका परिवेश उनका जंगल है। जैसा कि हम जानते हैं, जिस तरह नदी की मछली समुद्र में नहीं रहती है, उसी तरह पीढ़ियों से जंगलों में रह रहे आदिवासी किस प्रकार हमारे शहरों में रह पाएँगे? इस समझ के बावजूद, विकास के नाम पर ज़मीन छीने जा चुके आदिवासी समुदायों के पुनर्वसन को भी असीमित बार टाला जाता है। यही कारण होता है कि आदिवासी समुदाय के युवा या तो हिंसा का रास्ता चुन लेते हैं, या फिर शहरों में मज़दूर बनकर रह जाते हैं।

आज के व्यापार और औद्योगीकरण की आँधी में आदिवासियों के केवल अपनी ज़मीनों से बेदखल ही नहीं किया जाता है, बल्कि हमारे खुदरा व्यापारी वहाँ पहुँचकर अपना व्यापार करने लगते हैं। इन बाहर से आए लोगों को 'बाहरी लोग' या 'दिकु' कहा जाता। यह दिकु न धीरे-धीरे न केवल आदिवासी समुदाय को भौतिक चीज़ों की लत लगाकर अपने जाल में फँसाते हैं और उनकी ज़मीनें हड़पते हैं, बल्कि उनकी संस्कृति को भी दूर तक प्रभावित करते हैं। इसके ऊपर कानूनी कारणों से यह बाहरी लोग खुद को आदिवासी साबित करने के लिए तमाम तिकडम लगाते हैं। इसी पर प्रतिक्रिया देते हुए संजीव के उपन्यास 'पाँव तले की दूब' का एक पात्र कहता है, "शाबे भेड़ियाधसान है। महतो लोग कब से आदिवासी हो गया और क्रिश्चियन लोग, महतो लोग, इसी माफिक ऊ सब जिसका पास पैशा है, पढ़ाई है, जो गरीब आदिवासी का ज़मीन दखल किया है, वोई लोग आगे रहेगा। आज भी सब जमीन और नौकरी तुम लोगो का पाश है, हमरा का है?"[3]

एक ओर आधुनिक औद्योगीकरण की आधुनिक संस्कृति तो दूसरी ओर धर्मान्तरण की चाल, इन दोनों द्वारा आदिवासी संस्कृति और कलाओं का विकृतिकरण किया जा रहा है। आदिवासी समाजों में धर्म सामुदायिक एकता के रूप में सामने आता है, न कि जातिगत शोषण के हथियार के रूप में। धर्मान्तरण के कई कारणों में से एक आदिवासियों का अपने ज़मीनों से बेदखल किया जाना और उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य और मुनासिब रोज़गार जैसी बुनियादी सुविधाओं

[3].पाँव तले की दूब, संजीव, पृ.103

से सप्रयास दूर रखने को प्रमुख माना जाता है। आदिवासी संस्कृति की जड़े ज़मीन और जंगल में गहराई तक गई हुई हैं, लेकिन उसी ज़मीन पर फैक्ट्रियों व कारखानों का मलबा तथा घातक केमिकल फैलाकर आदिवासी संस्कृति की जड़ों को खोखला किया जा रहा है। ऐसे में आदिवासी युवक भौतिक नकल के फेर में पड़कर शहरी मध्यवर्गीय रुचि के अनुरूप अपने जीवन को ढालने का प्रयास कर रहा है। पारंपरिक रूप से खेती, पशुपालन और जंगल आधारित अन्य कामों में रची-बसी आदिवासी संस्कृति को जब कंक्रिट के जंगलों में रोपने का प्रयास किया जाता है, तो बस कोयला और राख ही बची रह जाती है। इस तरह सांस्कृतिक प्रतीकों और कलाओं से दूर आदिवासी न तो अपनी संस्कृति को बचा सकते हैं और न अभावों में अपने सदियों पुराने धर्म को। संजीव के 'जंगल जहाँ शुरु होता है' उपन्यास में कृषि और पशुपालन के धीरे-धीरे खात्मे को देखा जा सकता है। इस उपन्यास के पात्र बिसराम और काली मेहनत-मज़दूरी करने के लिए मजबूर हो जाते हैं, क्योंकि उनकी एक बीघा ज़मीन पर किसी 'मालिक' ने कब्जा कर लिया है। जीवन के सारे संघर्षों ने उन्हें अंदर तक तोड़ दिया है। बिसराम की बेटी की साँप काटने से मृत्यु को प्राप्त होती है। उनके पास अंतिम क्रिया करने के लिए भी पर्याप्त पैसे नहीं होते हैं। उसी बेटी के गले की हँसुली बेचकर बेटी की अंतिम क्रिया की जाती है। ध्यान दें कि हँसुली आदिवासी संस्कृति का एक विशेष गहना है, जिसे कभी नहीं निकाला जाना होता है, लेकिन मजबूरी के चलते उन्हें अपनी संस्कृति का पालन तक नहीं होता है। संजीव ने इस बेहद संवेदनशील प्रसंग को कुछ यों लिखा है: "सुध की रस्में पूरी हुईं। तीसरा दिन था घर में एक दाना तक नहीं। ये धान के बीज डालने के दिन हैं। मगर कहाँ के बीज और कहाँ के खेत? बीज होते भी तो क्या होता? खेत तो बंधक पड़े हैं। मलिकार के यहाँ सोचा था, भैंस गाभिन है, इसे बेचक जुगाड़ कर लेंगे। कुछ काली के पैसे बकाए हैं, नहर के ठेकेदार के पास। फिर भी कम पड़ा तो गाय बेच देंगे और इधर उधर से उधार लेंगे। मगर कुछ भी नहीं पाया।"[4]

कई बार संजीव आदिवासी संस्कृति की विशेषताओं का चित्रण करते हुए, उसे समीक्षात्मक नज़रिए से भी देखते हैं। हमारा तो मानना है कि किसी भी रचनाकार को अपनी कथा-भूमि और पात्रों के प्रति आलोचनात्मक होना चाहिए, ख़ासतौर पर सांस्कृतिक विमर्श क्षेत्र में। संजीव ने एक ओर आदिवासी जीवन में औद्योगीकरण से जन्मी व्यापारी आधुनिकता के प्रवेश की त्रासदियों को कथा में पिरोया है, तो दूसरी ओर आदिवासी संस्कृति में मौजूद रुढ़ियों को भी अपनी टिप्पणियों में शामिल किया है। 'पाँव तले की दूब' उपन्यास में उन्होंने लिखा है:

[4].जंगल जहाँ शुरु होता है, संजीव, पृ,23

"आदिवासी लोगों की दो कमजोर नसें हैं - अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता। अरण्यमुखी संस्कृति उन्हें सभ्यता के विकास से जुड़ने नहीं देती और उत्सवधर्मिता उन्हें कंगाल बनाती रहती है। हण्डिया या दारू पियेंगे ही और हर उत्सव को मस्त होकर मनाएँगे। पढ़ाई-लिखाई से दूर रहेंगे। दारू की लत और जरूरतमंदों को सूद पर पैसे-अनाज देकर इन आदिवासियों की जमीन कुछ चालाक लोगों ने हथिया ली। इसे यहाँ लेहना प्रथा कहते हैं।"[5]

क्या आपको लगता है 'लेहना' जैसी क्रूर और शुद्ध व्यापारी चालबाजियों से भरी प्रथा आदिवासियों की आदिम संस्कृति की देन है? स्पष्ट रूप से यहाँ केवल ज़मीन को ही नहीं, बल्कि इस संदर्भ में आदिवासी संस्कृति को भी बाज़ार की वस्तु बनाकर रख दिया गया है। आदिवासियों के लिए ज़मीन से उखड़ने का मतलब सिर्फ़ आजीविका का साधन छिन जाना नहीं है, बल्कि संस्कृति और धर्म से भी छिन जाना है। अपनी जड़ों से उखड़ जाना है। इस तरह के शुद्ध भौतिकवादी संघर्ष आदिवासी परंपराओं में नहीं देखने को मिलते हैं। "यह आत्मालोचना करने की बात है कि एक संभावना तिल-तिल कर तिरोहित क्यों हो गई। आप कहेंगे कि संघर्ष का क्षेत्र जरा-सा धीमा पड़ा कि सब हो गया। ठीक। लेकिन उससे भी अहम मुद्दा यह है कि क्या आपने उन्हें जीवनाधार का कोई विकल्प दिया था। दरअसल संघर्ष के व्यावहारिक पक्ष पर हमने कोई स्ट्रेस ही नहीं दिया।"[6]

इससे पता चलता है कि आदिवासी समुदाय के युवाओं का एक बड़ा हिस्सा औद्योगीकरण जनित आधुनिकता की चालबाज़ियों और तिकड़मों के समझने लगा है। वह अपनी संस्कृति और आदिम संवेदनशीलता को बचाने के प्रयास करते हुए मुख्यधारा समाज के अर्थों में भौतिक विकास को भी साधने की कोशिश कर रहा है। इस क्रम में वह वैचारिक संघर्ष के क्षेत्र में भी उतर रहा है, जहाँ वह अपने साथियों को भी अपने साथ लेने के लिए उन्हें इसके मायने और ज़रूरत समझाता है। संजीव के 'धार' उपन्यास का एक पात्र कहता है, "तब मोटी बात सुन लें, महीन खुद समझ में आ जाएगी। आप खुद काम नहीं कराते हैं, हम खुद करते हैं। आप देश और इसकी जनता सबसे गद्दारी कर अपनी जेब भरते हैं, हमारा पूरा काम ही देश और इसके लोगों के से सामूहिक हित का है। इसलिए लड़ाई की बात चाहे आप लाख करें, आप सिर्फ़ कपट की लड़ाई लड़ सकते हैं। आप में नैतिक बल है ही नहीं, कि हमसे लड़े।"[7]

[5].पाँव तले की दूब, संजीव, पृ.14
[6].धार, संजीव, पृ.154
[7]. धार, संजीव, पृ.193

संजीव ने अपने सभी उपन्यासों में आदिवासी समाज के युवाओं को जागृत होकर आर्थिक मोर्चे पर मज़बूत होने का आवाहन किया है। इसमें उन्हें भावनाओं को भड़काकर हिंसा के रास्ते पर ले जाने वाले कई श्रमिक-मज़दूर संगठनों से सचेत होने, अपनी ज़मीन के बहाने जंगलों बचाने और समाज को साथ लेकर चलने की सीख दी गई है। इसमें भी उन्होंने आदिवासी स्त्री पात्रों के माध्यम से संपूर्ण समुदाय को मज़बूत करने की सीख उनके उपन्यास देते हैं। यही कारण है कि संजीव के उपन्यासों के आदिवासी स्त्री पात्र कई मायनों में संघर्ष के ऐसे-ऐसे पड़ावों से गुज़रते हुए विकसित हुए हैं, जो हिंदी साहित्य के 'ड्राइंग रूम' छाप 'फेमिनिस्ट' साहित्य में शायद ही देखने को मिलते हैं। संजीव के आदिवासी स्त्री पात्र न सिर्फ़ आर्थिक संघर्ष कर रही होती हैं, बल्कि दिकुओं के सिस्टम से लेकर अपने समुदाय के भीतर के विरोधाभासों से लड़ती हुई आगे बढ़ रही होती है। यह स्त्री पात्र मानसिक रूप से इतनी सशक्त हैं कि वह टूटकर बिखरती नहीं हैं, बल्कि अपने फिर से तनकर संघर्षरत हो जाती हैं। वे जब किसी से लोहा लेती हैं, तो उसकी ढाल नहीं बनाती हैं, बल्कि हमलावर हो जाती है। फिर चाहे 'सर्कस' उपन्यास की "करतब दिखाती लड़कियाँ" हों, या फिर अन्य उपन्यासों की चांदनी, झरना, मैंना, बिसराम बहू, बेला, तेलम्मा, कलावती, शकुंतला जैसी पात्र हो, वे किसी क्रांतिकारी दिखावे या नारेबाज़ी की मोहताज हुए बिना, अपना भौतिक व सांस्कृतिक संघर्ष अपनी आदिम संवेदनशीलता के साथ जारी रखती हैं। वे अपने संघर्ष में बड़बोलेपन से नहीं, बल्कि अपने टिके रहकर बड़ी ही संवेदनशीलता से जारी रखती हैं। यही बात उनके कई पुरुष पात्रों के बारे में भी कही जा सकती है।

अंत की ओर बढ़ते हुए हम उस प्रश्न को संबोधित करना चाहेंगे, जहाँ हमने आदिवासी 'संस्कृति' का बहुवचन में प्रयोग करते हुए उसे 'संस्कृतियाँ' कहा है। इसके दो कारण हम यहाँ देना चाहेंगे। पहला तो यह है कि भारतीय उपमहाद्वीप में कई आदिवासी समुदाय रहते आए हैं। इनमें उतनी ही भिन्नता है, जितनी भारतीय उपमहाद्वीप के सुदूर उत्तर में रहने वाले मुख्य धारा समाज और सुदूर दक्षिण में रहने वाले मुख्य धारा समाज के लोगों में है। ऐसे में, जबकि भौगोलिक एवं संसाधनों की उपलब्धता में ऐतिहासिक रूप से भिन्नता देखी जा सकती है, वहाँ संस्कृति के विकास की गतिशीलता भी अलग-अलग रही है। ऐसे में सभी आदिवासियों की संस्कृतियों को केवल इसलिए एक कहना गलत होगा कि इससे आदिवासियों में 'फूट' डालने की कोशिश के तहत देखा जाएगा। माना कि इन संस्कृतियों में काफ़ी कुछ साझा या समान है, इनमें से प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशेषताएँ और ऐतिहासिक ज़रूरतों के मुताबिक बनी लेकिन अब कालबाह्य हो चुकी प्रथाएँ हैं। इन सभी को बारीकी से देखने के लिए इन विभिन्न

संस्कृतियों को अलग-अलग कर देखना और उनके हरेक ऐतिहासिक कालखण्ड में अलग तरीके से देखना ज़रूरी है। तभी हम कथित मुख्यधारा समाज द्वारा जाने-अनजाने आदिवासी संस्कृति के विकृतीकरण को करीब से देख और उसे रेखांकित कर पाएँगे।

निष्कर्ष रूप में कहा जाए तो संजीव आदिवासी सामाजिक संरचना और ऐतिहासिक रूप से विकसित उनकी संवेदनशीलता व उसकी जटिलता से केवल वैचारिक-सैद्धांतिक ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक रूप से भी घुले-मिले हुए हैं। यही व्यवहार उनके आदिवासी पात्रों और उनकी संवेदनशीलता के चित्रण में दिखाई देता है। ध्यान रहे कि संजीव अपने निजी विचारों को पात्रों पर सप्रयास लादने का प्रयास नहीं करते हैं, बल्कि वे पात्र ही ऐसे चुनते हैं, जो अपनी पूरी संवेदनशीलता के साथ वैचारिक रूप से जीवित परिवेश का हिस्सा बनकर उभरे। इस तरह संजीव आदिवासी संवेदनशीलता को 'सभ्यता समीक्षा' की तरह इस्तेमाल करते हुए दिखाई देते हैं। इसके लिए आदिवासी यथार्थ को साथ लेकर चलना अनिवार्य हो जाता है।

प्रोफ़ेसर गणेश बी. पवार,
हिंदी विभाग, भाषा एवं मानविकी संकाय,
कर्नाटक केन्द्रीय विश्वविद्यालय, कलबुरगी
Email: ganeshpawar@cuk.ac.in